युगसेतु

वर्ष : 3 अंक : 31 जन.-फर., 2014

संपादक
ओम प्रकाश शर्मा

संपादकीय सहयोग
उमेश प्रसाद सिंह
राजू कुमार
रमेश नारायण

विज्ञापन प्रबंधक
अमरेश कुमार पाण्डेय

प्रचार/प्रसार
नरेन्द्र कुमार सिंह

कार्यालय
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

संपर्क
एन-33, भूतल, लक्ष्मी नगर,
दिल्ली-110092
दूरभाष-9013379808, 9650914297
वेब साइटः www.yugsetu.com
ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक और संपादक डॉ. ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92 से प्रकाशित एवं ग्राफिक प्रिंट बी-77, गणेश नगर, पाण्डव नगर काम्प्लेक्स, दिल्ली-92 से मुद्रित।

इस माह

लोकमंच		4
संपादकीय		6
भाव-प्रवाह		
क्या हम आत्मनिर्भर हो सकते हैं?	विनोद कुमार सिंह	9
युग-साक्ष्य		
स्वनिर्भरता बनाम पर-निर्भरता		11
गणतंत्र दिवस पर विशेष		
भारतीय लोकतंत्र की चुनौतियाँ	सत्यप्रकाश राय	14
व्रतोत्सव		
मकर संक्रांति का महत्त्व	महेश शर्मा	16
सरस्वती पूजनोत्सव की परम्परा		18
शिव आराधना का व्रत : महाशिवरात्रि	सुप्रकाश	21
युग-चिंतन		
कितनी जरूरी है आत्मनिर्भरता	संदेश कुमार	24
लोक-परलोक		
देवगण : परमात्मा के नाना पर्याय	आचार्य श्रीराम शर्मा	30
विरासत		
जिन्होंने वृक्षों के लिए प्राण गवाँए	उमेश प्रसाद सिंह	33
मुद्दा		
अपराध का स्वरूप	सत्यांश	34
लोक-साहित्य		
भोजपुरी लोक कथा में संबंध-निर्वाह		35
कविताएँ		
जीवन नहीं हारा करता	अटल बिहारी वाजपेयी	40
कहानी		
पिता	ज्ञान रंजन	42
विमर्श		
नशा	रघुनंदन प्रसाद तिवारी	46
विचार-बोध		
लेखन का परिदृश्य	ओम प्रकाश शर्मा	47
सामयिकी		48
विविध		50

कुल पृष्ठ आवरण सहित 52

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

लोक मंच

धनिकों की शिक्षा-व्यवस्था गरीबों के लिए नहीं

भारत के राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री ने उच्च शिक्षा को लेकर चिंता जतायी है। इस बात पर अफसोस व्यक्त किया है कि विश्व के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में भारतीय विश्वविद्यालय सम्मिलित नहीं है। प्रधानमंत्री ने कहा है कि हमारे तमाम संस्थान ऐसे शिक्षित तैयार कर रहे हैं, जिनकी रोजगार के बाजार में जरूरत ही नहीं है। उच्च शिक्षा ही नहीं, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की स्थिति भी दयनीय है। कुछ योजनाओं जैसे दोपहर के भोजन से स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या में बढ़ोतरी तो हुई है, पर शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार की बजाय गिरावट जारी है। कम वेतन पर शिक्षकों को रखने से लेकर पब्लिक-कान्वेंट स्कूलों को सोची समझी रणनीति के अन्तर्गत बढ़ावा देकर सरकारी स्कूलों को दयनीय बनाया गया है। पैसे वालों की शिक्षा-व्यवस्था पैसे वाले के लिए बनायी गई है। साक्षरता बढ़ी है, डिग्री प्राप्त करने वालों की संख्या बढ़ी है; परंतु शिक्षा अपने मूल सरोकारों से बहुत दूर चली गई है।

संदीप मंडल, जलपाईगुड़ी, पं. बंगाल

पहले समस्या-विकास, फिर निदान

नदियाँ संस्कृति-समृद्धि की प्रतीक हैं। 'जल ही जीवन है' की धात्री हैं, लेकिन अनियोजित शहरी और औद्योगिक विकास के कारण इनका अस्तित्व संकट में पड़ता जा रहा है। एक समय तक उद्योग-धंधों और शहरों के विकास के बावजूद भी नदियाँ नष्ट होने से बची रहीं। लेकिन बाद में दुष्परिणाम भयावह होने लगा और आज ये हद तक प्रदूषित हो चुकी हैं। भारत की दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक नदियाँ गंगा और यमुना को बचाने के लिए बड़े स्तर पर आंदोलन हो रहे हैं, अरबों-खरबों की धनराशि सफाई पर खर्च हो रही है, लेकिन इनका दूषण बढ़ता ही जा रहा है। यह सब पहले समस्या पैदा करने, फिर निदान खोजने यानी पहले गंदा करके सफाई कराने की नीति-नीयत के कारण हो रहा है। गंगा-यमुना सहित अन्य नदियाँ प्रदूषित ही क्यों हुईं? मजबूरी थी या जरूरत थी? यदि तब थी तो अब यह मजबूरी या जरूरत बढ़ी ही होगी। इसलिए कुछ दिखावे के लिए कार्यक्रम व योजनाएँ बनती हैं, पर नतीजा अ धक फलदायी नहीं होता। पहले के बेतरतीब विकास मॉडल के कारण जगह-जगह नई समस्या खड़ी है। विकास-कार्य से दूसरी जगह क्या कठिनाई उत्पन्न होगी, इसका ध्यान रखना जरूरी है। संभावित समस्याओं और वर्तमान जरूरतों में अनुसंधानात्मक साझेदारी बिठाकर ही नीति निर्माण व कार्यान्वयन करना सारी समस्याओं के मूल उच्छेदन के लिए आवश्यक है। इसकी कोई संभावना मौजूदा राजनीति व शासकीय नेतृत्व में दिखाई नहीं दे रही है।

सरला ठाकुर, कटरा, जम्मू-कश्मीर

लोकतंत्र के नाम पर वंशतंत्र सशक्त

लोकतंत्र में वंशवाद, परिवारवाद, नातेदारी-रिश्तेदारी किस कदर बढ़ती जा रही है, इसका ताजा नमूना सूचनाधिकार कानून के माध्यम से सामने आया है। बात-बात में लोकतंत्र पर हमला बताने वाले और सवा अरब की आबादी में से कुछ छँट-चुनकर आए जन-प्रतिनिधि कुनबापरस्ती में दबे हैं। लगभग 146 सांसदों ने निजी सहायकों के तौर पर अपनी पत्नियों, बेटे-बेटियों व अन्य रिश्तेदारों को रखा है। पारिवारिक निजी सहायक रखने पर सरकार का पैसा सीधे परिवार में आता है और ऐसे निजी सहायकों के माध्यम से सामान्य कार्यकर्ता और आम जनता की बजाय पारिवारिक नजदीकियों की सांसद तक पैठ अच्छी होती है। इससे डीलिंग भी सुरक्षित रहती है और गैर-जरूरी निष्ठावान कार्यकर्ताओं-लोगों से दूरी भी बन जाती है जो हर मर्ज की दवा सांसद के पास आकर माँगते हैं। प्रायः सभी दलों के सांसदों ने ऐसा कर रखा है। इस तरह जनता के वोट और परिश्रम से बने ये नेता-सांसद निजता की सीमा में सामान्य, सही, कर्मठ कार्यकर्ताओं को तलाश कर नहीं रखते। इसमें इनकी गलती भी क्या है, खुद इनमें से अनेक वंशवाद- परिवारवाद की फसल हैं। बहुत सारे दलों का समूचा शीर्ष नेतृत्व भाई, भतीजों, बेटे-बेटियों, पत्नियों-बहुओं में सिमटा हुआ है। इनके यहाँ जो दूसरे नेता हैं, वे चाहे स्त्री हों या पुरुष- दोयम दर्जे के ही हैं। पहले के नेताओं की आँखों में एक शर्मोहया थी कि वे नेतृत्व ही नहीं, वरन् आम जनता-कार्यकर्ताओं के बीच किसी रिश्तेदार, परिवार वालों का नाम भी नहीं रख पाते थे, कुछ माँगना तो बहुत मुश्किल था। उन लोगों को कभी इसकी जरूरत भी महसूस नहीं होती थी। लोकतंत्र के नाम पर कुछ लोगों ने ऐसा वंश-तंत्र खड़ा कर दिया है, जो नातेदारी-रिश्तेदारी तक सिमटकर रह गया है।

प्रदीप सुरजेवाला, मैनपुरी, (उ.प्र.)

व्यक्ति विशेष के महिमा मंडन में पूरी विरासत की अनदेखी अनुचित

सरकार, संविधान की नियमावली के अन्तर्गत ही उपाधि-पुरस्कार दे सकती है। महात्मा गांधी को 'राष्ट्रपिता' की उपाधि दिए जाने के कारणों की जानकारी माँगने पर यह बात भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने कही है। मंत्रालय ने कहा कि सरकारी स्तर पर महात्मा गांधी को ऐसी कोई उपाधि नहीं दी गई है और न ही दी जा सकती है। यह लोक आस्था का विषय है, तभी बालगंगाधर तिलक को लोकमान्य, सुभाष चन्द्र बोस को नेताजी, नेहरू को चाचा, जयप्रकाश नारायण को लोकनायक, जगजीवन

राम को बाबूजी, सरदार पटेल को लौह पुरुष जैसे सम्माननीय संबोधनों से पुकारा जाता है; परंतु आस्था-विश्वास का तथ्य और तर्क से विशेष लेना-देना नहीं होता। फिर किसी को बड़ा कह देने मात्र से होता क्या है? लेकिन इतना तो ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसा बेतुका संबोधन न दिया जाए जो व्यक्ति-विशेष के पक्ष-विपक्ष में पूरी विरासत की अनदेखी करे।

राजू सान्याल, भरतपुर, राजस्थान

पद्यमय भाषा-प्रवाह वाली हिन्दी

युगसेतु की हिन्दी पढ़कर गदगद हूँ, विशेषकर संपादकीय की भाषा एवं विश्लेषण को देखकर। कुछ त्रुटियों के बावजूद भाषा-प्रवाह बेजोड़ है। यह गद्य होकर भी पढ़ने में पद्य जैसा आनंद देता है। गंभीर विषयों का संक्षिप्त रूप में सांगोपांग विवेचन इसकी विशेषता होती है। साथ ही मूल थीम पर केन्द्रित रहकर अपनी बात कहने की कला अद्भुत है। इसमें अंतर्संलाप, बोलती हुई, परस्पर संवाद करती हुई भाषा शैली है। हिन्दी का जो रूप सामने आता है, वह अपना लगता है, फिर भी हिन्दी हीन क्यों है? हिन्दी में सोचना, समझना, लिखना, पढ़ना भारतीयता को पुष्ट करने के लिए जरूरी है। हिन्दी के बिना सच्चे अर्थों में देश की उन्नति नहीं हो सकती, क्योंकि यह अपनी जमीन से पनपे विचारों, भावों, कल्पनाओं और वास्तविकताओं की संवाहिका है। ठसकपूर्ण हिन्दी के लिए धन्यवाद।

महेशचन्द शर्मा, करोलबाग, दिल्ली

सर्वग्राह्य हो चुका है पश्चिमी परिधान

कभी लड़कियों के स्कर्ट को लेकर तो कभी जींस को लेकर विवाद होता है। लड़कों के कपड़ों को लेकर कभी विवाद नहीं होता, ऐसा कई महिला कार्यकर्त्रिओं की शिकायत है। विवाद हमारा ध्यान खींचते हैं। पहनावे को लेकर हमारा व्यवहार नकल या अनुसरण वाला है। आज अंग्रेजी भाषा के हम चाहे अनचाहे अनुगामी बन गए हैं, ठीक उसी तरह पश्चिमी परिधान समाज के निचले स्तर तक सर्वग्राह्य हो चुका है। नगर-महानगर से सुदूर गाँव-कस्बों तक फैल चुका है। थोड़े लोग ही बचे हैं जो अपने 'पिछड़ेपन' के कारण परम्परागत वस्त्रों को पहनते हैं। विशेष अवसरों पर भी परम्परागत परिधान पहना जाता है। यह सच है कि वस्त्र का हमारे स्वयं के व्यक्तित्व पर और दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए भड़काऊ व उत्तेजक कपड़ों से परहेज समाज-हित में है।

किशोर नायक, मेरठ, उ.प्र.

सूचना व उपदेश से हल संभव नहीं

पिछले कुछ बरसों से राजनीतिक हलकों में चलन सामने आया है कि केन्द्र या राज्य के शीर्ष पदों पर बैठे लोग जिनमें राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, मंत्रीगण, सांसद-विधायक, सचिव-निदेशक, राजनीतिक दलों के अध्यक्ष भिन्न-भिन्न मंचों से देश-प्रदेश की कमियों की सूचना देते हैं या उपदेशात्मक रूप में अपनी अभिलाषा जाहिर करते हैं, मसलन देश में ऐसा हो रहा है और ऐसा करना-होना चाहिए। समझ में नहीं आता कि जब ये लोग कमजोरियों को जानते हैं, उसे सामने आकर सूचना देते हैं और कैसा होना चाहिए, यह बताते हैं, तो किसे बताते हैं? क्या आम जनता यह सब ठीक करेगी। उसने तो चुनकर इन लोगों को भेज ही दिया है, तो अब वह क्या करे? क्या ये लोग सुधार करते-करते थक कर हार चुके हैं कि अब कुछ नहीं होने वाला। राष्ट्रपति भाषण-मंचों से 'क्या होना चाहिए' बताते हैं, प्रधानमंत्री मंच से नौकरशाही के रवैये को बदलने के लिए कहते हैं।

भारत के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश मीडिया में यह बताते हैं कि उनकी भी इच्छा थी कि वे 16 दिसंबर के बलात्कार कांड के बाद जो प्रदर्शन हुआ, उसमें शामिल होते। उपराष्ट्रपति भी शिक्षा-व्यवस्था पर प्रश्न-चिन्ह लगा रहे हैं। क्या ये लोग कुछ नहीं कर पा रहे हैं? अथवा कुछ अलग कर रहे हैं और बाहर आकर कुछ दूसरा बता रहे हैं। आखिर मुख्य न्यायाधीश भी प्रदर्शन में शामिल होकर और सामूहिक चेतना से जुड़कर भी किससे क्या माँग रखते। राष्ट्रपति अपने यहाँ रबड़ स्टाम्प जैसे हैं, प्रधानमंत्री दुखी-चिंतित हैं ही, आम आदमी तो खुद ही सरकारी, सामाजिक, व्यावसायिक जटिलताओं में पिस रहा है।

रीता सिंह, नगीना, उ.प्र.

व्यवस्था परिवर्तन मुश्किल

नई व्यवस्था या व्यवस्था परिवर्तन की व्यापक चर्चा के बावजूद अब तक इसकी रूपरेखा स्पष्ट नहीं है। जो वैकल्पिक नीति व ढाँचा सामने रखा जाता है, वह कोई कारगर व्यवस्था नहीं है, फंडों के आवंटन से लेकर गाँवों को स्वायत्त और पंचायतों को अधिकार देने जैसे बिन्दुओं पर केन्द्रित है। इसमें मौजूदा व्यवस्था की सर्वांग बीमारी को दूर करने का उपाय नहीं है। पुरानी व्यवस्था जो चल रही है, उसी का यह पोषक है। यदि अभी नहीं तो मौका मिलने पर पोषक होते देर नहीं लगेगी। ऐसे एजेंडों पर कौन काम करेगा और फिर क्या एजेंडों पर ही कागजी काम होता रहेगा? इसलिए इस समय जो व्यवस्था चल रही है, उसका आसानी से परिवर्तन संभव नहीं है।

आपने बिल्कुल ठीक लिखा है कि 'वह चाहे जैसी भी है, पर साम, दाम, दंड, भेद की नीति और सब साधन से संपन्न है।' जो लोग व्यवस्था बदलना चाहते हैं, वे खुद भी इस व्यवस्था से व्यथित हैं। वे किसी भी स्तर पर व्यवस्था के अनुकूलन के शिकार न हों, (क्या पता अंदर से अनुकूलित भी हों, बहुत तो हैं ही) इसकी क्या गारंटी है। इसलिए व्यवस्था-परिवर्तन एक कठिन स्वप्न है।

श्रवण विश्वकर्मा, गाजियाबाद, उ.प्र.

पाठकगण

पत्रिका के संबंध में किसी भी तरह के सुझाव, विचार, प्रतिक्रिया आदि दूरभाष और ईमेल आईडी पर भी भेज सकते हैं। युग सेतु के पिछले अंकों को वेबसाइट www.yugsetu.com पर भी देखा जा सकता है।

संपादक

सत्यांश

दिल्ली ही देश नहीं है और है भी

लोग कहते हैं कि दिल्ली लघु-भारत (मिनी इंडिया) है। कुछ मानते हैं कि दिल्ली देश का दिल है। प्रचलित है कि दिल्ली दिलवालों का है, जैसे मुम्बई पैसेवालों और कोलकता कंगालों का? दिल्ली को लघु-भारत या देश का दर्पण कहना कुछ हद तक मुनासिब लगता है, क्योंकि यहाँ सभी भाषा-प्रांतों के लोग थोड़ी-बहुत मात्रा में रहते हैं। यहाँ के मूल निवासी मुश्किल से 5-7 प्रतिशत ही होंगे, बाकी नब्बे प्रतिशत से अधिक प्रवासी ही हैं। यह विशेष बात है कि चालीस-पचास प्रतिशत प्रवासी भी यहाँ के मूलवासी या मूलवासी की तरह हो गए हैं। तीस प्रतिशत के आस-पास यहाँ की जनसंख्या आती-जाती रहती है। इसलिए दिल्ली का स्वरूप बदलता गया है। एक मिली-जुली भाषा-संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान विकसित हुआ है। इस प्रकार यह सब की हो गई है और फिर इसका कोई अपना स्वरूप नहीं रह गया है। वैसे भी जो अनेक परस्पर पूरक व विरोधी चीजों को सरलता से अपना लेता है, उसका कोई अपना चरित्र नहीं होता। ईश्वर की बात अलग है, पर उसके यहाँ भी गुण-दोष पर आधारित भेद-दृष्टि-कार्य का प्रावधान है।

इस बार के दिल्ली विधानसभा चुनाव परिणाम ने राजनीतिक दलों के लिए 'दिल्ली दूर है' का आईना दिखाया है, कांग्रेस पार्टी की सीटें इकाई तक सिमट कर आठ हो गई हैं और शीला दीक्षित सहित उसके दिग्गज चुनाव में धराशायी हुए हैं, तो दूसरी ओर नई-नई बनी आम आदमी पार्टी ने आशातीत प्रदर्शन करते हुए अट्ठाईस सीटों पर जीत दर्ज की है। इसी कारण भारतीय जनता पार्टी दिल्ली की गद्दी तक पहुँचते-पहुँचते पिछड़ गई। यद्यपि वह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उपस्थित है और बहुमत से उसकी मात्र चार सीटें ही कम हैं, लेकिन विधानसभा चुनाव परिणाम से सीटों का ऐसा बँटवारा हुआ है कि महज चार सीटों का बंदोवस्त असंभव लग रहा है। दरअसल भाजपा व आम आदमी पार्टी और कांग्रेस ने कुल 70 में से 68 सीटों पर कब्जा कर लिया है। निर्दलीय व अन्य के खाते में दो ही सीटें हैं। ऐसे में इन तीनों प्रमुख दलों में से किन्हीं दो को साथ होना होगा। कांग्रेस की अधिक जरूरत या मजबूरी के बावजूद भी कोई उस पर राजी होता नहीं दिख रहा है। उसकी गिरती साख के कारण आम आदमी पार्टी भी उससे परहेज कर रही है और भाजपा को तो खैर करना ही था। दोनों उसी के खिलाफ चुनाव में अच्छी जीत लेकर आए हैं। जोड़-तोड़ भी चलता, लेकिन अगले छह महीने के भीतर लोकसभा चुनाव होना है। जो जोड़-तोड़ करके सरकार बनाएगा, उसके प्रति नाराजगी बढ़ सकती है और यह जोड़-तोड़ भी मौजूदा समीकरण में आसान नहीं है। फिर आम आदमी पार्टी को दुबारा चुनाव होने पर बेहतर प्रदर्शन के साथ दिल्ली की सत्ता हाथ में आती दिख रही है, इसलिए वह चुनाव के लिए तैयार हो रही है। इधर भाजपा को भी लोकसभा चुनाव के राष्ट्रीय मुद्दे व मोदी लहर के संभावित प्रभाव के कारण दिल्ली में दुबारा चुनाव लड़ना ज्यादा जोखिम-भरा नहीं लग रहा है और यदि लगे भी तो दूसरा रास्ता भी क्या है? राजस्थान एवं मध्य प्रदेश में एकतरफा और छत्तीसगढ़ में आगे-पीछे होते हुए वह बाजी मार चुकी है; बेशक, मिजोरम में उसका इस बार भी खाता नहीं खुला है, जहाँ कांग्रेस की सरकार बनने से कांग्रेसजनों को कुछ राहत मिली है।

इस बार के लिए विधानसभा चुनाव में लोगों के सामने 'कोई नहीं' (नोटा) के बटन दबाने का भी विकल्प था, फलतः इन पाँच राज्यों में लगभग 17 लाख लोगों ने 'कोई नहीं' का बटन दबाकर मतदान किया। सबसे अधिक छत्तीसगढ़ में कुल गिरे मतों का तीन प्रतिशत से अधिक लोगों ने यह विकल्प चुना। राजस्थान और मध्य प्रदेश में भी दो-दो प्रतिशत से थोड़े ही कम मत 'नोटा' को मिले। दिल्ली में लगभग पचास हजार लोगों ने 'कोई नहीं' को वोट दिया। वह भी तब, जब नयी उम्मीदों-आकांक्षाओं के साथ आम आदमी पार्टी का नवीन व आकर्षक विकल्प सामने था। मिजोरम में 'नोटा' को 0.66% मत मिला। पौने-दो प्रतिशत लोग अधिक नहीं होते, पर 17 लाख के करीब लोग कम भी तो नहीं होते। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि पाँच-दस ही युवक एक लक्ष्य के मिल जाएँ तो पूरा विश्व बदल देंगे। किंतु ये 'कोई नहीं' का विकल्प चुनने वाले सत्रह लाख लोग भी कोई एक-दो राय के थोड़े ही हैं।

दिल्ली को छोड़कर चुनाव हुए बाकी राज्यों में सरकारें गठित हो गई हैं, जो जरूरी थी। दिल्ली में दुबारा चुनाव ही समाधान दिखता है। जैसे भाजपा के उभार ने कांग्रेस को कुछ राज्यों से बेदखल कर दिया, वैसे ही क्षेत्रीय दलों ने अलग-अलग प्रांतों में भाजपा और कांग्रेस के परम्परागत आधार को कमजोर कर दिया है, नये विस्तार को अवरूद्ध कर रखा है। चूँकि दिल्ली लघु-भारत है, अतः यहाँ भी भाजपा-कांग्रेस की राह को 'आप' ने कठिन बना दिया है। यह डेढ़ साल पहले हुए दिल्ली नगर निगम चुनाव में दृष्टिगोचर हो गया था, जब निगम की कुल सीटों के बीस प्रतिशत से भी अधिक सीटें गैर-भाजपा व गैर-कांग्रेस दलों एवं निर्दलीयों ने जीत ली थीं। तभी साफ हो गया था कि माकूल विकल्प होने पर कांग्रेस व भाजपा से अलग हटकर भी दिल्ली में बेहतरी के लिए मतदान हो सकते हैं। इसके पीछे अन्ना हजारे एवं स्वामी रामदेव का भ्रष्टाचार एवं कालेधन के खिलाफ और लोकपाल के लिए अनशन-आंदोलन व महँगाई की बढ़ती मार मूल वजह थी। आंदोलनों तथा विरोध-प्रदर्शनों का यह सिलसिला निगम चुनाव के बाद बढ़ा और व्यापक भी हुआ, जिसमें यमुना बचाओ आंदोलन, भूमि सुधार के लिए लाखों लोगों की पदयात्रा एवं अरविंद केजरीवाल का बिजली की बढ़ी दरों के खिलाफ संघर्ष शामिल है। गैस सिलेण्डर से लेकर प्याज तक के दाम आसमान छूने लगे। इन सबके प्रति सरकार का रवैया टालू ही अधिक रहा है, फलस्वरूप जनाक्रोश-जनादेश के रूप में सामने आया है। किसी पार्टी-विशेष के नये उभार की बात छोड़ दी जाए तो भी ऐसी ही तस्वीर पूरे देश की

औसतन है। यों भी सोच सकते हैं कि दिल्ली का संदेश दूर तक जाएगा और पिछले लगभग आधा दर्जन बार के आम चुनाव परिणामों की तरह इस बार भी किसी एक दल की केन्द्र में सरकार नहीं बनने जा रही। कांग्रेस-भाजपा से इतर सपा, बसपा, जद (यू), द्रमुक, अन्नाद्रमुक, तेदेपा जैसे परम्परागत क्षेत्रीय दलों के पास भी कोई मौलिक कार्य-दृष्टि नहीं है। ये सब भी सिर्फ सत्ता-पथ के राही हैं, इसी सच्चाई के कारण नयी बनी आम आदमी पार्टी को इतनी सफलता मिली है। पर इसने कांग्रेस के साथ भाजपा का भी मार्ग कठिन बना दिया है। लोगों ने अभी आम आदमी पार्टी का काम नहीं देखा है, अतः उसकी विश्वसनीयता के प्रति आशा का आकर्षण विद्यमान है। विश्वसनीयता व साख पर संकट होने पर भी सफलता मिल सकती है और मिलती रही है, लेकिन तब सफलता के मूल्यांकन का पैमाना दूसरा होगा।

फिलहाल, चिंतन यह होगा कि दिल्ली ही पूरा देश नहीं है और यह भी कि दिल्ली पूरे देश की झलक भी है। जैसे दिल्ली में राज्य सरकार बनाने के लिए राजनीतिक दलों का 'दिल्ली दूर है' के यथार्थ से सामना हुआ है, क्या वैसे ही आगामी आम चुनाव के बाद अपने दम पर नई दिल्ली में केन्द्रीय सरकार बनाने के आकांक्षी दलों के लिए दिल्ली दूर रहेगी, पर कितनी?

देश का नेता कैसा हो?

देश का नेता कैसा हो? समय-समय पर यह प्रश्नात्मक नारा उठता है और अलग-अलग नेताओं से जोड़कर इसका उत्तर मिलता रहा है। इस मूल नारे का प्रश्न बहुत पुराना है, जो अभी भी दुहाराया जाता है। नारा लगाने वालों के लिए, 'नेता कैसा हो' का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि निश्चित उत्तर को फिट करने के लिए इस प्रश्न का इस्तेमाल किया जाता है। मसलन 'देश का नेता कैसा हो? राहुल गांधी जैसा हो।' इस प्रकार इस पुराने नारे में नये-नये लोकप्रिय नाम स्थिर किए जाते हैं। लगभग बीस साल पहले तालकटोरा स्टेडियम में आयोजित एक कार्यक्रम में नारा लगाया गया कि 'देश का नेता कैसा हो? अटल बिहारी जैसा हो।' अटल बिहारी वाजपेयी वहाँ उपस्थित थे और उस समय भाषण दे रहे थे। उन्होंने कहा कि ये नारा मैं कब से सुनता आ रहा हूँ, लेकिन नारे में कुछ खोंट है। देश का नेता अटल बिहारी जैसा हो, स्वयं अटल बिहारी नहीं। किसी के जैसा होने और स्वयं उसी के होने में कितना फर्क है- यह महसूस किया जा सकता है। खैर! वाजपेयी जी तब भी देश के अग्रणी नेता थे और बाद में तीन-तीन बार प्रधानमंत्री भी बने। यह एक नेता के शीर्ष पद पर जाने की यात्रा थी, लेकिन सांसद, मंत्री, प्रधानमंत्री से परे एक नेता तो वे सदैव रहे ही, सदाबहार नेता- पद रहे न रहे, इससे उनके नेतृत्व का मूल गुण ऊपर-नीचे नहीं उठता था।

आजकल बिना पद के राजनीतिक क्षितिज पर लंबे समय तक टिका रहना मुश्किल होता है। अनेक लोग आज नेता इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि वे विधायक, सांसद, मंत्री, विपक्षी नेता और पार्टी-संगठन के पदों पर बैठे हैं। भारतीय राजनीति में अब ऐसा उदाहरण मिलना मुश्किल है जो बिना किसी पद के राजनीति में अपनी भूमिका रखता हो, मजबूरी की बात अलग है। आज के परिप्रेक्ष्य में सही भी है कि कोई पद नहीं है तो नेतागिरी काहे की? परंतु वाजपेयी जी पद के कारण नेता कहलाने वालों में से नहीं, हालाँकि वे भारतीय जनसंघ के संस्थापक और 1957 में दूसरी लोकसभा के सदस्य बन गए थे। लगभग पचास वर्षों तक संसद के किसी-न-किसी सदन के सदस्य रहे, फिर भी उनका नेता वाला व्यक्तित्व, उनके किसी भी पद पर आसीन होने से भारी पड़ता था। दूसरे शब्दों में, वे पद की वजह से नेता नहीं बने, 'जन्मजात' नेता होने के कारण पद पर बैठे। पद के पीछे भागने वाले इंसान नहीं थे, इसलिए अपने साथी-सहयोगी की मंशा परखकर वे पद से विरक्त रहने की ताकत भी रखते थे। इस मायने में वे काफी उदार थे। राजनीति का हल्कापन-ओछापन उन्हें नागवार गुजरता था। अयोध्या में विवादित ढाँचा ढहने के बाद तत्कालीन भाजपा अध्यक्ष मुरली मनोहर जोशी और तब के लोकसभा में प्रतिपक्ष के नेता लालकृष्ण आडवाणी सहित अनेक नेताओं की गिरफ्तारी हुई, तब वाजपेयी जी ने संसद से लेकर सड़क तक आंदोलन की जमीन तैयार की। यद्यपि वे राम जन्मभूमि आंदोलन के तौर-तरीकों से असंतुष्ट थे, फिर भी उन्होंने भाजपा का अपने ढंग से पक्ष रखा। विवादित ढाँचा गिरने को 'दुर्भाग्यपूर्ण' माना। इस पर उत्तर प्रदेश भाजपा के तबके एक महामंत्री ने उन्हें 'राजनीति रास न आने के कारण संन्यास लेने' का सुझाव दे दिया। हालाँकि तब के मुख्यमंत्री रहे कल्याण सिंह ने वाजपेयी जी को बहुत बड़ा नेता करार देते हुए ऐसे बयानों को अर्थहीन बताया था। आज उत्तर प्रदेश के वे नेता भाजपा के बड़े नेता हैं और उनको इस मुकाम तक पहुँचाने का प्रारंभिक श्रेय वाजपेयी जी का है। उसी समय एक दिन जब दिल्ली में आमसभा करने जा रहे वाजपेयी जी को पुलिस गिरफ्तार कर संसद मार्ग थाने ले गई, तब उग्र कार्यकर्ताओं ने बहुत अभद्र नारे लगाए। एक नारा 'अब तो खुल्लम-खुल्ला है, नरसिंहराव ... है' - जब वाजपेयी जी की कानों तक गया, तो उन्होंने खड़े होकर इस हल्के-ओछे नारे की तीव्र भर्त्सना करते हुए बंद करा दिया। वे अपनी बात कहना भी जानते थे और सबको लेकर चलना भी जानते हैं। जब तक पार्टी व सरकार के शीर्ष पर रहे, गुटबाजी को अपने स्तर पर पनपने नहीं दिया। जिन्हें उनका प्रतिस्पर्द्धी माना जाता था, वे उनके अभिन्न मित्र थे।

एक बार प्रमोद महाजन से भाजपा की गुटबाजी के बारे में पूछा गया तो उन्होंने बताया कि भाजपा में दो गुट हैं -एक अटल गुट और दूसरा आडवाणी गुट। अटल गुट के नेता आडवाणी जी हैं और आडवाणी गुट के नेता अटल जी हैं। इस कथन में बहुत हद तक सच्चाई इसलिए भी थी कि वाजपेयी जी कहीं अधिक उदार, सहिष्णु और पदमोह से मुक्त व्यक्ति थे। एक बार भाजपा मुख्यालय में चुनाव समिति की बैठक संपन्न कर जब सारे नेता अपनी-अपनी गाड़ियों में बैठकर जाने लगे तो बिहार के बक्सर से आए कार्यकर्ताओं ने अपने तत्कालीन सांसद के टिकट कटवाने के लिए आक्रोशित होकर सभी नेताओं की गाड़ियों का घेराव किया। सुरक्षाकर्मियों द्वारा गाड़ियों को किसी तरह निकलवाया जाता रहा, गाड़ियों में बैठे जिन नेताओं के खिलाफ नारेबाजी होती रही, उनमें

आडवाणी जी भी शामिल थे। कुछ देर बाद वाजपेयी जी भी गाड़ी में बैठकर आवास जाने लगे, कार्यकर्ताओं ने उनका भी घेराव शुरू किया। बात आगे बढ़ती, तब तक वे भारी भीड़ के बीच गाड़ी से उतर गए। उतरते ही कार्यकर्ताओं ने सर-सर कहकर एक-दो वाक्य में अपनी बात कही, वाजपेयी जी ने शालीनता से हमदर्दी दिखाई, कार्यकर्ताओं का गुस्सा काफूर हो गया, वे वाजपेयी जी जिंदाबाद के नारे लगाने लगे। ससम्मान उनकी गाड़ी को रास्ता मिला और वे निकल गए। यह तो था उनका व्यक्तित्व और उसका प्रभाव।

वाजपेयी जी ने जो कुछ भी पाया, उसके पीछे उनका लंबा संघर्ष था, लेकिन यह संघर्ष कुछ पाने के लिए ही नहीं था। स्वतंत्र भारत के वे उन विरले राजनीतिज्ञों में से हैं, जो साध्य-फल की बजाय साधन-कर्म में ही आनंदमग्न रहना जानते थे। तेरह दिनों के लिए प्रधानमंत्री बने तो संसद से लेकर समाज में कितना लोगों ने मजाक उड़ाया। जब उन्होंने इस्तीफा दिया तो यही कहकर कि 'दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।' यह उल्लेखनीय है कि एनरॉन जैसे सौदों की विवादास्पद मंजूरी भी इसी तेरह दिन के कार्यकाल में दी गई, जिसकी अपरिहार्यता बहुतों के गले नहीं उतरी थी। इसी प्रकार जब उन्होंने बस से शांति-सौहार्द के लिए पाकिस्तान की यात्रा की और उसके तुरंत बाद 'कारगिल' में घुसपैठ हो गयी, तब भी उनकी नेतृत्व क्षमता पर सवाल उठे, लेकिन समझना चाहिए कि वैमनस्य या युद्ध की आशंका से शांति की कोशिश बंद नहीं होती, यदि ऐसा न होता तो सर्वज्ञाता श्रीकृष्ण यह जानते हुए भी कि महाभारत का युद्ध अवश्यम्भावी है, पांडवों का शांतिदूत बनकर हस्तिनापुर क्यों जाते?

वाजपेयी जी में अपनी विशेष बात कहने की कला-कुशलता भी है और भाव-भंगिमा भी। वक्तृत्व में जहाँ मानव-मन की अतल गहराइयों की छुअन होती है, वहीं सागर-सा विराट गांभीर्य भी। वे वाक्-चातुर्य में धनी थे, लेकिन उससे अधिक अपनी बात को साहसपूर्ण ढंग से कहना जानते थे और कहने लायक अवसर को पहचान लेते थे- 'नीकी पै फीकी लगे बिन अवसर की बात, जैसे बरनत युद्ध में रस-शृंगार न अघात।' उनकी ठोस व बेवाक राय अपनों से भी भिन्न होती थी और विपक्षियों से भी। अयोध्या आंदोलन के समय जैसे विवादित ढाँचा गिराया गया, उससे वे सहमत बिल्कुल नहीं थे। उन्होंने कहा कि राम का मंदिर यदि बनाना है तो छल-छद्म की जल्दबाजी में नहीं बनेगा। मंदिर बनाने के लिए जेल जाना व कष्ट उठाना पड़ेगा। एक समय गोविन्दाचार्य जी के कथन से गलत या सही खबर छप गयी कि 'अटल जी मुख नहीं, मुखौटा हैं, मुख तो आडवाणी जी हैं' तो बखेड़ा छिड़ गया। परंतु इस विवाद में अटल जी स्वयं कहीं नहीं थे, पर उन्हें यह कचोट रहा था। अपनी बात रखने के लिए उन्होंने उपयुक्त अवसर इसी दरम्यान ढूँढ़ा। विजयाराजे सिंधिया की आत्मकथा के लोकार्पण के अवसर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं भाजपा के लगभग सारे शीर्षस्थ नेता उपस्थित थे, जिनमें रज्जू भैया, केसी सुदर्शन, दतोपंत ठेगड़ी, विजयाराजे सिंधिया, लालकृष्ण आडवाणी आदि मंचासीन थे। पुस्तक का लोकार्पण वाजपेयी जी को ही करना था, उन्होंने किया भी, पर जब भाषण देने की बारी आई तो उन्होंने पूछा कि 'कार्यक्रम के आरंभ से लेकर अब तक एक प्रश्न हवा में तैर रहा है कि इस पुस्तक का विमोचन मुझसे ही क्यों करवाया गया? शायद इसलिए कि अब मैं मुख नहीं, मुखौटा हो गया हूँ।' ठसाठस भरे सभागार के सारे लोग भौंचक रह गए और उन्होंने प्रसंग तुरंत बदल दिया। इसी प्रकार विज्ञान भवन में तत्कालीन मानव संसाधन मंत्री मुरली मनोहर जोशी की सत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर वे मुख्य अतिथि थे। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल विष्णुकांत शास्त्री अध्यक्षता कर रहे थे और कांग्रेस के सांसद एवं भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंगनाथ मिश्र आयोजन समिति के अध्यक्ष थे। इस कार्यक्रम में जोशी जी ने पार्टी और सरकार में अपनी उपेक्षा-अनदेखी का दर्द परोक्ष रूप से बयान किया, उसके बाद प्रधानमंत्री वाजपेयी जी ने अपने श्रेष्ठ गिने जाने योग्य उस दिन के भाषण की शुरुआत मजकिया लहजे में की- 'आज सुबह जब मैंने जोशी जी को बधाई देने के लिए फोन किया तो वे पूजा कर रहे थे। जोशी जी ऐसे नेताओं में नहीं जो लोगों से न मिलने के लिए पूजा का बहाना बनाते हैं।' और फिर जोशी जी की उपेक्षा की शंका का निवारण भाजपा के शीर्षस्थ नेता एवं सरकार के मुखिया के नाते इस प्रकार किया - 'सबके साथ मिलकर काम करने की जरूरत है और फिर चिंता की कोई बात नहीं।' इस प्रकार वे जनमानस को पढ़ने-समझने में माहिर रहे हैं और उचित-अनुचित, अवसर-बेअवसर के पारखी भी। भावों की गहराई को विचार-भाषा की उदात्तता व सहजता में एकसाथ व्यक्त करने के कारण अन्तर्मन को छू जाने वाले उद्गार करते थे। वे पद पर रहें या न रहें, स्वस्थ रहें या न रहें, लेकिन उनके संभाषण की उपस्थिति की धमक बरकरार है।

अस्तु, उस नारे का क्या होगा जो वापजेयी जी ने संशोधित कराया था कि 'देश का नेता अटल बिहारी जैसा नहीं, खुद अटल बिहारी हो' आखिर कब तक अटल बिहारी जैसों से काम चलाओगे, जब अटल बिहारी साक्षात उपस्थित हैं ही तो। वाजपेयी जी आज उम्र और स्वास्थ्य के उस पड़ाव पर हैं, जहाँ से पुनर्वापसी संभवतः नहीं होती- 'जो जाकर न आए, वह जवानी देखी; जो आकर न जाए, वह बुढ़ापा देखा।' लेकिन दैहिक उपस्थिति भी कम गणनीय है क्या? यह सच है कि अब देश का नेता तो अटल जी नहीं हो सकते, (कुछ मायने में तो हैं ही।) इसलिए वही पुराना अलाप कि 'देश का नेता अटल बिहारी जैसा हो' की तर्ज पर नये नेताओं की तलाश करनी पड़ेगी। उनके जैसा से ही काम चलेगा। लेकिन अब भाजपा वालों ने भी किसी के जैसा पर नहीं, सीधे नरेन्द्र मोदी पर दाँव लगा दिया है। भाजपा के लोग अब देश के नेता की बात नहीं कर रहे हैं। उन्होंने अपनी तरफ से तय करके प्रधानमंत्री के लिए उम्मीदवार जनता के समक्ष रख दिया है; परंतु वाजपेयी को ये लोग भूले नहीं हैं, उनके लिए भारत सरकार से 'भारत रत्न' की माँग कर रहे हैं। इतना बड़ा सम्मान और वह भी माँग कर? इससे पहले माँग का दबाव बनवाकर लोगों ने सचिन तेंदुलकर को यह पुरस्कार दिलवा दिया है, परंतु अटल जी की खातिर इसे माँगिए मत; माँगकर लिया सम्मान सम्मान नहीं, अपमान की भीख है। इसलिए जब हाथ में सत्ता आए तो जैसे नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री की कुर्सी मिलेगी, वैसे ही अटल जी को 'भारत रत्न' भी दे दीजिएगा और फिर बिना किसी 'भारत रत्न' के अटल बिहारी वाजपेयी भारत रत्न नहीं हैं क्या?✸

उसने वृक्षों की रक्षा के लिए अपनी जान गवाँ दी

❑ उमेश प्रसाद सिंह

राजस्थान की भूमि प्राचीन काल से अपनी वीरता और शौर्य के लिए प्रसिद्ध रही है। यहाँ के राजाओं ने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया तो यहाँ की युवतियों ने अपनी सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग किया। विश्व में राजस्थान एकमात्र राज्य है जहाँ दर्जनभर महिलाओं ने वृक्षों की रक्षा के लिए अपनी जान गवाँ दी। शहीद अमृता देवी और उनकी सहेलियों की कहानी इसका ज्वलंत उदाहरण है। वृक्षप्रेमी अमृता देवी के बलिदान की बात काफी दिनों तक गुमनामी के अंधेरे में खो गई थी। उत्तराखंड में महिलाओं द्वारा वृक्षों के रक्षार्थ चिपको आंदोलन चलाया गया तो किसी को याद आया कि जोधपुर इलाके में भी सैकड़ों साल पहले एक चिपको आंदोलन हुआ था। राजस्थान की महिलाओं का सर यह सोचकर गर्व से ऊँचा हो जाता है कि मीराबाई, सहजोबाई, रूपाबाई और अमृता देवी जैसी साहसी महिलाओं ने महिला आंदोलन की अगुवाई की। यह घटना 1737 ई. की है। जोधपुर के तत्कालीन राजा जय सिंह ने आदेश दिया कि चूने के भट्टे को पकाने के लिए लकड़ी चाहिए। अधिकारी तुरंत वहाँ से 33 कोस की दूरी पर गए। उस गाँव में खेजड़ी के पेड़ों की बहुलता थी। वह गाँव विश्नोई समाज के लोगों का था। इस समाज के लोग पेड़ों की रक्षा जी-जान लगाकर करने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उनके गुरु जाम्भो जी ने उपदेश दिया था कि पर्यावरण की रक्षा के लिए वृक्षों को बचाना आवश्यक है। सोलहवीं शताब्दी में राजस्थान में भयंकर अकाल पड़ा था। लोग बड़ी संख्या में पेड़ों को काट रहे थे। जंगली जानवरों को मार कर खाने लगे। जाम्बो जी ने उन्हें समझाया कि ऐसा करने से तो प्रतिवर्ष अकाल आएगा। आप जंगल की वनस्पति और जीव-जंतुओं की रक्षा करेंगे, तभी अकाल से भी आपकी रक्षा हो पाएगी। इसी के बाद विश्नोइयों ने हरे-भरे पेड़ों को काटना और जीव-जन्तुओं को मारना बन्द कर दिया।

इसी परम्परा में जन्मी थीं अमृताबाई और उनकी सहेलियाँ। राजा के कर्मचारियों ने पेड़ काटना शुरू ही किया था कि गाँव में तहलका मच गया। राज कर्मचारी उनकी बात मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें तो राजा के आदेश का पालन करना था। तभी भीड़ को चीरती हुई निकलीं अमृता देवी और पीछे-पीछे चल पड़ीं उनकी तीन बेटियाँ। पेड़ों से लिपटकर खड़ी हो गईं। सिपाहियों ने गरदनें काट डालीं उनकी। फिर भी मरते दम तक पेड़ नहीं छोड़ा। इस कुर्बानी का चमत्कारिक असर हुआ। एक के बाद एक 370 नर-नारी शहीद हो गए पेड़ों की खातिर।

जोधपुर महाराज को इस घटना की सूचना मिली तो उन्होंने क्षमा याचना की। विश्नोइयों के गाँवों में पेड़ काटने और जंगली जानवरों के शिकार पर रोक लगाने के लिए राजा ने ताम्रपत्र पर फरमान जारी किया। फरमान में लिखा गया कि गलती से भी यदि किसी ने इस नियम का उल्लंघन किया तो राजा द्वारा उसे दंडित किया जाएगा। राजा ने उस गाँव का नाम खेजड़ली रख दिया। जहाँ खेजड़ी के पेड़ों की बहुलता है।

अमृता देवी के साथ अनेक शहीदों का बलिदान रंग लाया। इस घटना के बाद से राज परिवार के सदस्यों ने भी कभी इस इलाके में शिकार नहीं किया। शहीदों की याद में इस स्थान पर स्मारक और मंदिर बनाया गया। यहाँ एक कहावत प्रचलित है, 'सर सांदे रूख रहे तो सस्तो जान।' यहाँ आज भी बन्दूक की आवाज सुनते ही समाज के स्त्री-पुरुष और बच्चे शिकारी को चारों तरफ से घेर लेते हैं। मृत जानवर का शोक ऐसे मानते हैं जैसे उनके परिवार का कोई सदस्य शान्त हो गया हो।

अपराध का स्वरूप

समाज में बहुत तरह के अपराध होते रहते हैं, नए-नए रूप में नये-नये तरीके ईजाद करने के साथ। माना जाता है कि यह आपराधिक प्रवृत्ति और असामाजिक तत्वों द्वारा किए जाते हैं, अतः उन्हीं को खत्म कर देने से अपराध खत्म हो जाएँगे, लेकिन ऐसा संभव नहीं होता, क्यों? क्योंकि अपराध की मूल प्रवृत्ति कुछ और ही है। समाज में जितने अपराध अपराधियों द्वारा किए जाते हैं, उससे अधिक गैर-अपराधियों द्वारा भी। कुछ अपराध साफ दिखाई देते हैं, लेकिन बहुत जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं, जीवन के स्वाभाविक और नैसर्गिक अंग बने होते हैं। इनको करते हुए आदमी को इस बात का एहसास भी नहीं होता कि वह कोई अपराध कर रहा है। इसका कारण ही यही है कि जीवन जगत में जो भी दुख, जो भी अंधकार, जो भी घृणा और हिंसा पैदा हुई है,अविद्या-अहित को विद्या-हित समझ लेने से हुई है। वह अगर मनुष्य के जीवन को परिवर्तित करता है तो इसमें जो स्पष्ट समझ भेद है, उसे समझना होगा। ओशो का साफ कहना है कि जो विद्या आजीविका सिखाती है, जो लिविंग देती है, रोजी रोटी देती है, वह अविद्या है। मूल विद्या है हर स्थिति में आनंदमग्न रहना, स्थिर प्रज्ञ की तरह रहना। ऐसे में व्यक्ति प्रेम को उपलब्ध होता है, वह जितना प्रेम को बांटेगा, उतना ही सुखी होगा, उतना ही वह दूसरों को भी सुखी पाएगा। उसके द्वारा दुख की किसी को कोई संभावना नहीं है, क्योंकि दूसरों को दुख देने में वह खुद ही दुखी हो जाएगा। प्रेमपूर्ण चित्त का अर्थ ही यही है कि वहाँ दूसरों का दुख दुखी करता है, दूसरे का सुख सुखी करता है। घृणा से भरे चित्त की स्थिति बिल्कुल उल्टी है, वहाँ दूसरे का दुख सुखी करता है और दूसरे का सुख दुखी करता है। वहाँ जब कोई आदमी सुखी दिखाई देता है तो ईर्ष्या, कपट, बेचैनी पकड़ लेती है। जब कोई आदमी दुखी दिखाई देता है तो ऊपर से वह बड़ी सहानुभूति की बातें करता है, लेकिन भीतर रस पाता है बड़े सुख का।

ओशो की दृष्टि में चोर और जज और पुलिस एक साथ ही जुड़े हुए हैं। ये एक ही चीज के हिस्से हैं। ये अलग नहीं हैं। जज अकड़कर बैठा हुआ है, लेकिन वह चोर का दूसरा हिस्सा है। जब तक चोर है, तब तक जज भी बैठा हुआ है, तब तक वह भी शान बढ़ाए हुए है। मतलब यह है कि इसमें एक की उपस्थिति पर ही दूसरे का अस्तित्व टिका हुआ है। समाज में अपराधी न हों तो अपराध-नियंत्रण रखने वाले तंत्र की क्या आवश्यकता होगी? ऐसे तंत्र के भीतर ही इतनी अधिक मात्रा और इतनी तरह के अपराध होते हैं जो अपराधियों के अपराध को छोटा बनाते हैं। किसी चीज के प्रति सकारात्मक ही नहीं, नकारात्मक रूख भी उसे न केवल जिन्दा रखता है, अपितु सबल भी बनाता है, जैसे किसी व्यक्ति या वस्तु के विरह में उसकी याद सदैव उपस्थित रहती है, ठीक उसी प्रकार अपराध के नियंत्रक तंत्र अपराध को टिकाए रखते हैं। इसलिए दुख को छोड़कर सुख और शोक को छोड़कर आनंद प्राप्त करने की बजाय सुख-दुख, शोक-उत्सव से परे रहने को सर्वोत्तम जीवन-पद्धति व स्थिर प्रज्ञा बताया गया है। वैसे भी समाज में अपराध किसे कहा जाए, यह मानक स्थिर नहीं है। इसे परिभाषित करना आसान नहीं है। जैसे भ्रष्टाचार के दायरे में रिश्वतखोरी से लेकर कर्तव्यहीनता, लालफीताशाही, पक्षपात, नियमों की अवहेलना आदि सब कुछ सन्निहित है, ठीक उसी प्रकार अपराध में भी दायित्वहीनता, असत्य भाषण, हिंसा, अनाचार सब कुछ शामिल है। आपराधिक तत्त्वों के अपराध जब साफ दिखाई देते हैं, तो उन पर हाय-तौबा मचता है, सजा भी हो जाती है, लेकिन उससे कई गुना अधिक अत्याचार, सफेदपोश लोगों द्वारा होता है, जिसकी कलई कभी खुलती नहीं। वैसे कोई-न-कोई अपराध हर व्यक्ति करता ही रहता है। जिससे अपना या दूसरे का नुकसान हो, वह सब अपराध ही है। जरूरी नहीं कि यह नुकसान हमेशा तात्कालिक ही हो अथवा दिखाई पड़े ही। कई बार अपराध करने में व्यक्ति लाभ भी देखता है जो व्यक्तिगत भी होता है, पारिवारिक, जातीय, सामाजिक व राष्ट्रीय भी। ऐसे 'लाभ' के चक्कर में व्यक्ति अपराध में प्रवृत्त होता है और उसे कुछ मनचाहा लाभ होता भी है। तब भी यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कोई भी अनैतिक कार्य या अपराध यदि सीधे-प्रत्यक्ष हानि न करके कुछ नफा ही दे रहा है, तब भी दीर्घकालिक रूप से अन्ततः उससे नुकसान ही होता है, जिसकी भरपाई मुश्किल होती है।

अपराध केवल व्यक्ति ही नहीं, समाज भी करता है और राष्ट्र भी। एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर धौंस दिखाने के लिए हमला करके हजारों-लाखों लोगों को मार देना अपराध नहीं तो क्या है? एक जाति का दूसरी जाति पर जुल्म, एक संप्रदाय द्वारा दूसरे संप्रदाय का कत्लेआम अपराध ही तो है। ऐसे में यह तय करना कठिन हो जाता है कि यहाँ कौन अपराधी है और कौन निरापराध अपराधी। किसने जानबूझकर एवं टेन्डेसी बनाकर यह कार्य किया और किसने बचाव में अपराध किया। किसने हत्या के लिए हमला किया और किसने बचाव में हत्या की। अमूमन जो ज्यादा पीड़ित दिखता है, लोग उसके प्रति हुए अपराध का आकलन कर लेते है। लेकिन पीड़ित भी अपराधी हो सकता है और होता है। जैसे अपराधी द्वारा हत्या हत्या है, वैसे ही पुलिस-सैनिक-रक्षक द्वारा भी, लेकिन परंपरा से हम अपराधी की हत्या को हत्या की श्रेणी में रखते हैं, पुलिस-सैनिक द्वारा हत्या को अपराध नहीं मानते या कम मानते हैं। परंतु व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि न अपराधी द्वारा अपराध हो और न अपराध नियंत्रक तंत्र द्वारा। इसके लिए जरूरी है कि अपराध के प्रति सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों से परे रहने वाले लोगों का समाज बने, लेकिन यह तब तक संभव नहीं, जब तक समाज में कहीं भी किसी भी स्तर पर अत्याचार अपराध हो रहा है। पूर्ण अपराधहीन समाज की कामना तो हो सकती है, पर वास्तव में ऐसे समाज का निर्माण असंभव है। ✸

नशा

❐ रघुनन्दन प्रसाद तिवारी

मैं नशा का आदी नहीं रहा और न ही मुझे नशे का कोई शौक रहा। मैं सोचा करता कि यदि मैं सिगरेट पीने लगूँगा तो मेरा प्रति दिन कितना समय उसमें लगेगा। मैं यदि पाँच सिगरेट पीता हूँ, एक सिगरेट पीने में दस मिनट लगते हैं, तो पचास मिनट लग जायेंगे और मैंने सुना था कि सिगरेट पीने वाले पूरी डिब्बी एक दिन में पी लेते हैं। इस तरह तो मेरे सौ मिनट एक दिन में सिगरेट में चले जाएँगे और यदि पान का शौक पाल लिया तो समझो पाँच पान भी दिन में खाये तो जरा हिसाब तो लगाइये? आपने कितना पान खाने में लगा दिया। सिगरेट तो डिब्बी से निकाली और दस मिनट में फूँक डाली पर पान के साथ तो ऐसा नहीं हो सकता। उसे तो खाने के लिये बाजार में पनवाड़ी के पास जाना होगा, पान लगवाना होगा। फिर कहीं आप उससे खा पाएँगे और यदि पान खाने वालों की भीड़ लगी है तो आपको इंतजार भी करना होगा। इस तरह से घर से पनवाड़ी के यहाँ जाना, उसे पान लगवाना और फिर उसे चगलते-चगलते वापिस आना या कहीं और जाना। जय हिंद। खा लिया न आपने पान। तो देखिये उस पान खाने की प्रक्रिया में आपकी जिन्दगी का तीन-चौथाई घंटा निकल गया और यदि दिन में चार पान भी खाये तो तीन घंटे लग गये। एक दिन में तीन घंटे पान खाने में चले गये। मिला क्या आपको? जरा सोचिये? मिला आपको फेफड़े की बीमारी, दाँतों व गले का कैंसर। कितनी अच्छी तरह आप सोचते हैं। यदि आपने ये सब नहीं किया और उसकी जगह पढ़ते-लिखते रहे या कुछ धंधा करते रहे तो आपने अपना और अपनी आने वाली पीढ़ी का कुछ तो भला अवश्य किया है।

ये तो वे नशे हैं जिनसे बचना चाहिये। बहुत व्यक्ति इनसे बच भी लेते हैं; किंतु कुछ नशे ऐसे हैं जो उम्र के साथ लग जाते हैं। जैसे किसी को पढ़ने का नशा लग गया जो वह आइ.ए.एस, इंजीनियर, डॉक्टर या कुछ और, ये नशेड़ी कुछ बनकर ही निकलते हैं। कुछ को क्रिकेट का नशा चढ़ता है। भरी धूप में, भयंकर ठंड में खेलता है तो खेलता ही रहता है। पर सभी ऐसे नशेड़ी कपिल देव या तेंदुलकर नहीं बन जाते । यह खेल का नशा हजार में एक को ही ऊपर पहुँचाता है, बाकी मुँह ताकते सट्टा लगाते रह जाते है।। खेल फिर चाहे हॉकी, फुटबॉल, कबड्डी या कुछ भी हो, खेल तो खेल रहता है। किसी की जिन्दगी बन जाती है, बाकी हँसते रह जाते हैं। उम्र के साथ कुछ और भी नशे हैं जैसे आवारागर्दी करना। भले आदमियों को चैन से न रहने देना। यह भी एक नशा है। नशा वह है जिसका आदमी आदी हो जाए और उसके वगैर रह न सके। परोपकार भी एक नशा है। जिसका भला करो, वह गाली देता है। इससे तो यह बात हुई कि किसी का कुछ भला न करो तो उसे जी लोगे और उपकारी बनने की कोशिश की तो कभी-कभी पुरखे याद आ जाते हैं। यदि किसी के साथ कोई दुर्घटना हो गई और आपने पुलिस को मदद के लिये फोन कर दिया तो फिर लगाते रहिये थाने का चक्कर और अदालत में गवाही देने के लिये भी जाने के लिये तैयार रहिए। अच्छा भला किया, सोचते रह जाएँगे, यह भी एक प्रकार का नशा है। समाज की सेवा में मिलता क्या है? यही न, कोई कुछ कहता है तो कोई दूसरों से पूछ भी लेता है कि वह क्या दूध के धूले हुए हैं जो इस तरह से दूसरों की मीन-मेख निकाला करते हैं। आप सोचिये कि यदि पान खाना नशा है तो दूसरों का भला करना भी नशा है और आप इस तरह से अपने जीवन का कितना समय बर्बाद करते हैं।

यह नशा तो समझ में आती है कि आपको पढ़ने का नशा है। उसमें आपको कुछ विपरीत होता नहीं दिखता। जब मन आया पढ़ने बैठ गये और जब न आया तो किताब बंद करके बैठ जाइये। कोई कुछ कहने वाला नहीं है। आप चित्र बनाइये और बनाते रहिये या संगीत प्रेमी हैं या संगीत में रुचि रखते हैं तो गाते रहिये। इसमें किसी का नुकसान नहीं है औन न कोई दखल देने वाला है। ये नशा पान, सिगरेट, तम्बाकू, गुटका खाने के शौक या नशे से अलग तरह के हैं। इनमें स्वास्थ्य पर विपरीत असर पड़ता है। यह जान कर भी नशा करते हैं। कुछ को नशा होता है कि बड़े बाप के बेटे हैं, खाट पर लेटे हैं तो लेटे हैं। किसी तरह का काम करने की बात ही उनके मन में नहीं आती है। हाँ, बस केवल इतना करते हैं कि समय पर पेट में ईंधन सप्लाई करते रहते हैं। उनका केवल काम यही होता है कि खाओ और सो जाओ। बस उनकी जिन्दगी की सीमा यही है। उससे आगे बढ़ने की न सोची है और न ही सोचेंगे। वो भी सब भगवान करेंगे। उनको कुछ नहीं करना। भगवान को इसलिये करना है कि भगवान ने ही उनको जन्म दिया है। इसलिये वे करें। और कहने वालों ने कह भी दिया कि 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काज'। भगवान के भरोसे की बात छोड़िये तो अपने भरोसे पर जाइये जहाँ मनचले अपने विचार बना लेते हैं कि यहाँ तफरीह करना है चाहे जो कुछ हो जाए और वे बाज नहीं आते। इसे कहते हैं जवानी का नशा जो बढ़कर किसी खास वर्ग को उत्पीड़ित करता है। इसी तरह कुछ को किसी खास समय में किसी के घर जाने का नशा हो जाता हे। जैसे चाय-नाश्ते के समय पहुँचने का, खाने के समय पहुँचने का या फिर दूसरा चाहे या न चाहे उसके साथ चिपके रहने का भी एक नशा ही है। भला यह कौन सी बात है कि आपको तो काम ही नहीं है, फिर दूसरे के यहाँ पहुँच कर क्यों उसकी दिनचर्या में खलल डालते हैं। पर क्या करें, नशा जो है।

इन अनेकानेक नशों से एक नशा सबसे बहतरीन है आगे बढ़ने का नशा। नई सोच को कार्य रूप में परिणत करने का नशा ही है जिसने दुनिया को इस मुकाम पर पहुँचाया है। ऐसे नशेबाज अपनी लगन के पक्के रहे हैं और तरह-तरह के विचारों की सोच में लगातार जुड़े रहे हैं। इस कारण आज दुनिया व्यक्ति की हथेली में समा गई है। आप पूछेंगे वह कैसे तो मोबाइल, इंटरनेट से। नई सोच, नई खोज का नशा ही है जिसने हम आपको इस मुकाम पर पहुँचा दिया है। ✸